

हिम-विद्ध

जगदीश गुप्त



भारतीय ज्ञानपोथ अकाशन

ज्ञानपीठ लोकौदय ग्रन्थमाला ग्रन्थाव - १६६

सम्पादक एवं नियामक

लक्ष्माचन्द्र जैन

HIM VIDDH

(P m)

D JAGDISH GUPTA

Bharatiya Jnanpith
Publication

First Edition 1964

Price Rs 3 00

(C)

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय

६ मन्वीपुर बाइ प्लेस बलवन्ता २७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५

विवरण केन्द्र

३६२ । १ नैनाजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९६४

मूल्य तीन रुपये

भारत मन्त्रालय वाराणसी-५

कालिदास को
निकोलस रोरिक को
अनागारिक गोविन्द को
और—

हर उस व्यक्ति को
जिसकी आत्मा ने
हिम विद्ध होकर
एक जीवनव्यापी
पवित्र उन्मेष का अनुभव किया हो

पूर्व कथन

अपन अन्तमनम हा नही बाहरक वातावरणम भी एक रचनाकारके नात मक्ष बहुत समयस एक विचित्र प्रकारकी रिक्तताका अनुभव हाता रहा ह जो अब भी सवधा नि गप नहीं हुआ ह । जहाँनक मर अम्यन्तरकी बात ह हिम दगक सम्पकन रिक्तता दम कठोर तिकन अनुभवकी बहुत दूर तक भावकी कामल स्निग्ध समृद्धिस भर लिया ह । प्रस्तुत सक्तनका कवि ताए उसका सवहन करतो है । बाहरक वातावरणकी बात कठिन ह । भाव जावनक अन्तरम सत्यका गरिमा ह वह व्यक्तिअस्तित्वका विशिष्ट रूप हा नही स्वय अस्तित्व ह । बाह्य जगत्क सम्पकस प्राप्त सम्पक प्ररणा-गारा जब उसकी अभिव्यक्ति हाता ह ता एमा लगना ह कि जस अपन हा भीतर निहित किसी नय सत्यस सागात्कार हो रहा हा भल हो वह सय गानक घरातल्पर पूव परिचित नी क्या न हा । विपाकन सामाजिा वातावरणमें निरन्तर सघपरत रहत हुए आत्मा छान-छो स्वायोंसे ऊपर उठकर अपन आतरिक भाव सत्यकी प्रतिष्ठा कहाँ कर यट समस्या आजका जावित समस्या ह और मर आग हा नही प्रत्यक जागटक व्यक्तिअ आगे उपस्थित हातो ह । अप्रतिष्ठित भाव घटनर अभिगापम सस्त एक भारा बाझकी तरह जीवनका और अधिक दुव बना दना ह । अतात म मनुष्या अपन भीतरी भाव-मत्यकी ईश्वर घम और दबी दवना मानिक नामपर कहाँ कहीं गस्थापित ननी किया परतु आधुनिक चतना प्ररगन अनुभूत हानवाल् वस्तु जगन अर्थात मानव और प्रकृतिअ अनिश्चित किमा अय अलग-अलगमें

भावनाको स्थापित करनेका प्रेरणा नही देती। मानव और प्रकृतिसे विषयम भी वर्णानिकताने आग्रह युक्त बनमान युगम जो धारणा संपत् प्रतात हानी है वह मध्यकालीन परलोकोमुखा धारणास भिन्न और स्पष्टत लाकोमुखा है। छायावादी रहस्य वादी भी अब उगम संपत् नही बचा है। पराव नीच पन्थकी कठोरता प्रतिक्षण अनुभूत होती रहती है। मनुष्य जगता है कि आजका मनुष्य ईश्वर और धर्म के विरुद्ध स्वयं विनारा करके भी अपना साधकता मानव मर्यादापर अपना दण्ड आस्था रखकर तथा प्रकृतिसंग अपन आन्तरिक मूल्यका मजबूत बनाकर ही विनाशित प्राप्त कर सकता है। हूँ यकी उमकनता और अनभव का सहजनाके आधारपर वही ऐसी भावमयता अर्जित कर सकता है जो यात्रिक जात्रनका बधमान विषयमताया यथाथका विकृति या और छात्र छात्र स्वाथीका पति निष्ठास आन्तर मानव मूल्यकी भग्नताव बीच उग नितात रिक्त होनम बचा सकती है। इसम युगकी वास्तविकतास पन्थायनकी गंध भी नहीं है वरन एक प्रकारस उसकी मर्वाणीय स्वोक्ति है। प्रकृतिसंग कटकर महानगराया जावन भमानक उमस निर्जीव यात्रिकता और भावहीन यात्रारिकतास कितना बाशिल है जाना है लग इसका भी बहुधा अनुभव नही कर पात। उस बोधसे दब हुए व प्रकृतिसंग अपना सहज सम्बन्ध स्थापित करनम अस मय ही जात है। उनसे लिए प्रकृतिका सुला द्वार घटिया स्तर की विलाम-यत्तिका है इधरसे उधर ल जानका साधन बन जाता है।

सम्पूर्ण जीवन केवल यथार्थ और विडम्बना ही नहीं है और न दुःख और जमाव है उसकी समग्रताका यत्न करत है। नैसर्गिक सौन्दर्यक बन्धन आरूपणास उत्पन्न होनवाया आत्मीयतापरक विमर्शता मृत्युकी उपरि धन अनभवस प्राप्त होन वाया अकल्प परिताप तथा मनष्य मनष्यक बीच मानवीयतासे सिक्त सम्बन्धका प्रतिपन्न बनकर आनवाला आस्था भी जीवनका ही अंग है। मरता यत्नतक कहूँगा कि आस्था परिताप और विमर्शताका यथार्थ पक्ष नष्ट हो जाय तो जीवनका गहरा अर्थ ही समाप्त हो जाता है। हमारी गति केवल सतत

तब सामित रहे, गहरास्मि उसका कोई वास्ता न हो ऐसा किसी का भा अभीष्ट न होगा। भावक पत्रकी यह बात रोमाण्टिक या नियारामाण्टिक टगका नो हू कयाकि यमायक परिवर्तमे विलग होकर भावका प्रतिष्ठाको माँग यहाँ नही का जा र्ता २। मर निवृत्त भाव की स्वाभार करना यथायको मानवीय रूपमें स्वीकार करना हू।

कृष्ण और कविता मभा अमल्लव घनाकी तोडती हुई आज त्रिम जगह जा गयी हू वहाँ उम म्बुट्ठाना माय गतिनील होन और अपन लिए त्रिवरूपवक स्वय त्रिावोध प्राप्त करन ना पूरा अधिहार मिल गया हू अप ना हू प्राणवित्तक मजाव स्पन्दनाकी जो बिना भावकी प्रतिष्ठाके सम्भव नही हू। अपेक्षित मानन्तस्वसे रहित वृत्ति रान घटकी नरह अगुम प्रतीत हान लगती हू। उमम आत्मीयता और मह अनुभूति उत्पन्न करनकी क्षमता भी घोर धार ममाप्त हाता जाती हू। केवल अभिव्यक्ति की त्रि छितिया और दृपगन वचित्पपर वन दनग भावकी कमीकी पूरा नही किया जा सक्ता। गविका साधान करत हुए मममामयिक कविता और कृष्ण भी, कुछ एम उपकरणों की आर उ मय हाती गयी २ जो स्वय भाव न होकर उमक धारक या व्यजक है। परिणामन ना प्रभाव उमम मिन्ता हू वह वहुधा विचार चिन्तन अपरा अभिप्रक्ति कोगर्ही द्यो हू। अनुभूति उतनी समृद्ध नो हू। सरा हू जितनी बिना प्रोड यगकी रचनाभास अपातिन होता हू। भीतर और शररका पूरी गगति हुए बिना भावना गविक साध प्रवाप्ति नो हाती। तरह तरहकी यजनाए उमका अभिव्यक्तिक आन आनी रहता हू। नन कविताभाक माध्यमसे मय लगता हू कि जम मर अन्तर्निम्नि भाव मत्पन अपना अभिव्यक्ति त्रिा स्वानुत्प माग माजनरी घटा का हू। कविता और कलाका क्षय एमा हू जहाँ प्रत्यक व्यक्तिको यदि वृ मद्रिय हू ता अपन अनुत्प स्वानु अभिव्य जगन्मय अवहित करना हो हाता हू।

अपन आत्र नरक विराम-क्रमकी जब म पाछ मुक्कर देगता हू तो मगता हू कि मरे अन्तर जा भाव-माध्म रगे हू

उसको पन्नी बार नींद श्रृंगार के चित्र और सम्बद्ध गानिया
 तथा दूसरी बार चन्द्रमन्त्रिकी परिशिष्ट निमित्त स्तन चित्र
 तथा समानांतर रची गया कविताओं का रूप प्राप्त हुआ। इन
 दोनों आवगमय विस्तृत भाव स्थितियों में एक मूल छाया का
 माह्वय रहने के कारण मूल प्रायः एकाग्रता है जमे इनमें म
 हो नहीं है किन्तु अन्तर्गत अस्तिव भा है और म उसका माय
 है। यह अनुभूति अपनम महत्त्वपूर्ण हात हुआ भी अब मम
 म तीसरा भाव स्थिति में समग्र चर्चा और बीती हुई प्रजात
 जाता है। हिम निष्ठता का सारी भाव स्थितियाँ बाध मूल लगना
 रहा है कि अब अपन मान बचल म है। यह छाया मूल पका
 टकी तरह कठार बनाती है प्रकृति सौन्दर्य सम्पत्तों छोड़
 कर स्वयं तिराहित हो गया है। जो कोमलता इन कविताओं में
 आयी है वह पापाणाव आग पकी चर्चा का मलता है। बाह्य
 सौन्दर्य और मर अंतरंग द्वारा उसके प्रत्यक्षीकरण एवं आस्वा
 दन के बीच कोई छायाभास अब कदाचित् नैप नही रह गया है।
 केवल मर मन में उसका प्रति अपार कृतज्ञता बची है क्योंकि
 उसका मर मूल अपन अस्तित्व का प्राथमिक बाध हुआ। म इस
 तत्त्व में इनकार नही करता कि इन दोनों भाव स्थितियों में कहीं
 कुछ समानता रही है जिस स्फूर्तिपूर्ण तरंगता तन्मयता और
 परिताप सुख की श्रृंगार में परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना चाहूंगा
 कि ये तीसरा भाव प्रवाह मर निकट एक एका आत्मोपलब्धि
 का द्योतक है जिसका स्तर पूर्ववर्ती प्रवाह स्तरों में पयाप्त भिन्न
 हो चुका है। इसमें दृष्टा और गृह्य के बीच काफी निकटता
 स्थापित हो गया है। पन मृष्टि कविता माना है। ऊँचाई का
 का स्पर्श करने की भावना रखना तथा प्रत्यक्ष क्षत्रम उनके
 सौन्दर्य का निहारकर परितोष का अनुभव करना मनःप्य मात्र का
 स्वभाव है और भावना के इस धरानल पर म अपन को किमीसे
 पयः नही रखना चाहता।

निम्नलिखित समस्त भारतीय चित्रों का मूल द्वात्रय रखा
 । जो सत्य प्रतिमित्र द्वात्रय में प्राप्त नहीं होता वह
 मान्य में अवश्य उपलब्ध होता है। उसकी अपार सुन्दरता

आग विनत हानेयें मेरा आमाने गौश्वका अनुभव दिया
ह । उसक नियमकी अगणित शृंखलाओंमें आवद्ध होकर मरी
बहुत-सा मानसिक सामान टूटा ह । भारतीय दृष्टि तत्त्वतः
माणसिकता और पवित्रताको कद्रमें रखकर जीवनक स्वल्प
का आनन्दन करता ह । पाषाणमय हिमालय भा उसक निकट
कल्याणमय निवृत्ति हा गया ह । जड़म भा चतुर्थाश्रितिका
सौम्य उस ललित हाता ह । पाश्चात्य चानिक-दृष्टि आज
जान आधारपर खननका समयना चाना ह विन्ययन
प्रति उसका विनयन मराहनाय ह परंतु भारतीय चिन्तनके
एक व्यापक क्षणमें चतुर्थका मूल मानकर जड़का व्याख्यायित
करनका यत्न किया गया ह । अन्तिम सत्य तो राय ही जाने
पर मुझ जानना भारतीय धारणा अधिक मानवाय और
प्रेरक प्रतात हाता ह । उसमें जीवनको जड़ वस्तुआका तरह
विभाय मानकर नय पुरानक बौद्ध आर्यनिक व्ययधान और
विरोध मिद्ध करनकी अनिवार्यता सामन नहीं आता । मनुष्यका
विकास-क्रम विच्छिन्न नहा होता । अग्रण्ड इकाईकी तरह
उसका प्रतिष्ठा बना रहनी ह । जीवनका वास्तविक सम्मान
उसका अग्रणताको स्वीकार करवे हा किया जा सकता ह ।
निराणा बुद्धि विवृति भय और परामर्श ऊपर ललित
जान-गानक महार विजय प्राप्त नों की जा सकती । मत
चष्टा का ह इस बातक प्रति सजग रहनकी बि मरी किमी ना
हृत्तिसे जाननका अग्रमान न होन पाय । मानवके स्वाभिमान
और स्वातन्त्र्यकी धारणाओंको स जीवनक प्रति इस व्यापक
सम्मान भावका अग्र मानता ह ।

पकत प्रमाणों मर मार अनुभव इन कविताओंमें आ गय
ह । एसा बात नहीं ह । हिमदेयके निवासियोंके अधिक तथा
अभावभय अविश्वसित एव विषय जीवनकी आर इन कविताओं
म कोई दृष्टिराग नहीं किया गया ह उसका अविश्वसित मर
यहगन्धक रसाविशामे हुई है । यह भावयक नहीं ह कि
माराकी मारी अनुभूतियाँ किमी एक ही माध्यमक क ही
दा जायें । गाँवों बाँध रखकर चतुर्थाश्रित माय परपर

चरगाती पिपले हुए लाहकी तरह आँधाको बाँधस भरती
 आवागि पवतको नीचसे ऊपर तक अपन पाशम बाँध तेनको
 गविन रखनवागे प्रतापन गाल मागाए और उनक बीच रह
 रहकर उठलता हुआ वह मृग गावक विवगताक साथ उसे
 देखती हुई मरा। गकाबुड निरीह आँखें और आगध मृत्युकी
 परास्त करत हुए अन्तिम साहसक साथ एक ही छत्रागमें उमका
 परीकी परी दरार फाट जाना मर हर्षातिरक्म कुछ सजता
 जा जाना और फिर कभी न भग्नवाला एक स्मृतिके रूपमें
 बिना किसी कविताका जन्म न्य सार अनभवका मनके एकात्म
 स्थिर हो जाना एक ऐसा ही उद्गाहरण है। ऐसे न जान कितन
 प्रसंग है जो सबन्नामे परी तरह सम्पन्न होकर भा काय रूप
 प्रण नहीं कर सके। इसी तरह बहुत-सी कविताएँ ऐसी हैं
 जिन्हें किसी अनुभवक गत रूपमें सीध नहीं जोड़ा जा सकता
 हम सकलनम उपर्युक्त आहत करण स्वर गीणक कविताकी
 तरह शायद ही कोई दूसरी कविता हो जो प्रत्यक्ष अनुभवसे इतन
 निविड रूपसे सम्बद्ध हो सकी हो। प्रकृति रमणीक है कविता
 मर उस भाव बोधका गान बढ़ करती है जो प्रस्तुत सकलनकी
 प्राय सभी कविताओंके मूलमें मूल्य रूपसे परिचायित रहा है।
 निमि विड कविता इस दौरकी कविताओंमें सबसे पहली है
 और उमीस सकलनक नामकी उद्भावना हुई है।

किसी परम्परागत काव्य रूपके सबन्नाम बना सत्य यह
 है कि कविक स्वभाव और कथ्यकी प्रकृतिके अनुसार कविताका
 रूप स्वय उद्भूत होता है। रचनाकार अपनी जोरसे उसे
 उद्भूत होत हुए दखनकी तत्स्यता एवं विनाय हस्तभय न करन
 की सधमगीलता अर्जित कर ले तो यह काव्यके लिए चर्चित
 रचना क्रमसे कही अधिक उपकारक होता है। कविता छान
 मकन ही है मरी नृष्टि यह आपह धसा है कठोर है जसा
 छान-बढ़ताका कविताके लिए अनिवाय मानना। कविकी
 स्वतन्त्रता दानमें बाधित होती है। इन दोनों सामाग्रियों ऊपर
 उठकर एक ऐसा दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कि
 प्रत्येक कविताका रूप उसकी मूल अनुभूति के भीतर निहित

रहता है और रचना प्रक्रिया स्वतः निष्पन्न हो जाता है।
 कवि के लिए अपरिचित यह है कि वह उस निहित रूपका अपन
 पूर्वाग्रहों में आच्छादित न हो सके और अपन अमर्यत हस्तगत
 विवृत न बनाये। अर्थात् सम्भव हो सज्जतापूर्वक उभय
 रंगित करने का प्रयत्न करे। यदि कोई कविता छन्द-बद्ध
 होकर ही उद्भूत होती है तो बलान उस मुक्त छन्द या छन्द मुक्त
 रूप में बोलने की बात मझ अस्वाभाविक प्रतीत होती है।
 इसका बिलम्ब भी उतना ही सही है। मन यत्न किया है कि
 कविताभाषा निहित रूप में यथामुम्भव रक्षा कर सके। क
 बार पूर्वाग्रह प्रयत्न हुए पर म उह प्रायः मर्यामित कर सका।
 कही-कही अपनको नगी भा राक पाया हूँ पर उसका मझ म
 नों है। इन कविताभाषा रचित समय कभी कभी लगा है कि
 जमे मन किसी ऊँच जगह पर घाटा का अगाध गहराई की धीरे-
 धीरे लिया है। या जस कह गिरते एक साथ नीचे गये हैं
 और म निश्चय न कर सकूँ कि वह किम दर्शना है। अधिक
 तर यही प्रतीत हुआ है कि जलवा गति-स्तर सुनत है और
 मन्त्रादभाषा बीच-बीच पर सज्ज गति में चलता जा रहा है
 तथा पवन पवन का तरङ्ग भाव सब मरा साम दे रहा है। ज
 पवन का अनुभव हुआ घाटा दर एक किया।

सारी कविताएँ पिछले चार-पाँच वर्षों में अन्तराष्ट्रीय
 समय-क्रमण पर लिखी जाना री है। मझ दूरी व प्रकाशन
 समय ही उनका मूजन आरम्भ हो गया था। एसा न होता
 तो वह एकलन हिमालय सहयोगी माटी का गुरु का वर्षादुल
 साध्या सुन्दर ठाणव जल अभिषिक्त गिरा और पिछले-बलीक
 प्रथम हिम-स्पर्श की स्मृति का साथ स्थापित न किया गया होता।
 मन हिमालय की ओर उभरा होने के लिए चाना आक्रमण का
 प्रतीका नहीं की ओर न उसका प्रति अपना प्रतिक्रिया का
 अतय ही होना किया है क्योंकि बना मरा मन्त्राद हा म
 है। म चारों भी तो बना मुझ में सम्भव नहीं है। नय सम्भन
 मझ सा न किया है एसी भी जान मों है। अन्त की चार
 कविताएँ मन्त्राद हा म। पर मरी मुनि-चन निजा भावना है।

१६ बादल का साप	४३
१७ हिम शिखर पर बादल	४४
१८ स्याह बादल जगमगाती धूप	४५
१९ धूप का चादर	४६
२० बादल एक शब्द चित्र	४७
२१ बादल मेहर	४८
२२ याति का मछलियों	४९
२३ बादल द्वन्द्वार शायों पर	५०
२४ बादलों के वलय	५१

● टाकुरी के मोर

२५ घात रात स	५२
२६ पल्लवार	५३
२७ शिखर-स्पश	५४
२८ शिखर हथलिया पर	५५
२९ छवि पर दूबा	५६
३० टाकुरी क भार	५७

● वन-स्पन्दन

३१ उपस्थका आहत करण स्वर	५८
३२ स्पश दर्शा तार	५९
३३ सहमशादी नदी	६०
३४ नदी का भावग	६१
३५ पोंगर ग ध विधारता	६२
३६ उस हिमाना दग में भी	६३
३७ टर पवत पथ की	६४
३८ घाटा का चिन्ता	६५
३९ धन दारका वन	६६
४० गारों भार सूचा-गुच्छ	६७
४१ स्तम्भ कथा	६८
४२ वन स्पन्दन	६९

४३	हिम गिरा मन में	७९
४४	टेरत हूँ शिखर	८०
४५	कल्पना का अंतराल	८१
४६	शिखरों में दूर हूँ	८२
४७	उद्यम का माथा	८३
४८	भूल क्यों घटे बग़ीचा	८४
४९	व्यथ ग़द ज़ाक	८५
५०	गिरा मर	८६
५१	स्मरण जल	८७
●	मैं वह क्यों नहीं हुआ	८९

५२	वज्र संकल्प	९३
५३	स्वामिमान	९४
५४	कौन भूमि होगी जहाँ	९५
५५	मैं वह क्या नहीं हुआ	९६



आँख भर देखा कहाँ



राशीभूत अट्टहास

देखा हिमवान् को

राष्ट्रहीन अट्टहास राशीभूत
काना ने नहीं -
मुग्ध आँखा ने गुना ।

जिस क्षरोखे से निहारा

जिस थरावे स निहारा

खुल कर पछ-जसा

वही उज्ज्वल

वही पावन

रूप

वही उठती उमिया-सी शलमालाए

वही अतश्चेतना सा गहन वन विस्तार

वही उबर कल्पना-स फूटत जलस्रोत

वही दृढ मासल भुजाआ स कस पापाण

प्र ॥ ११॥ वही चंचल वासना सी बिछलती नदिया

पारदर्शी वही शीश की तरह आकाश

और किरना स झलावल

वही मुसका वेधते हिमकोण

जिस थरोख स निहारा

वही उज्ज्वल

वही । पावन

वही निमल

रूप

दृश्य शिशु

दूध के अघउग दात सी
बार हिम शृंग की
फूटी फिर
उस स्लटी बादल की ओट से

चलता हूँ
अरे । तनिक ठहरो भी, १
पहल मैं इस शिशु का २
पूरा मुस ता निहार लूँ ३

हिम श्री को देखा

दृष्टि के किनारा तक
फली आकारहीन
हिम श्री को देखा —
लगा

पुतली ने मुक्त हो
मुड़ कर ज्या
आख की धबलता को
पहली बार पहचाना
और ?
और अपनी मलिनता पर
लज्जित हो ठिठक गयी ।

नमन की चार पक्तियाँ

नमन मेरा हिम-जल्द अभिपिक्त शृंगा को ।
नमन मेरा दात सध्यातीत रगों को ।
इन्द्रपु के गुच्छ जिन पर तैरते रहते,
नमन मेरा अलकनन्दा की तरंगा को ।

बन्धन, मुक्त मन के ॥

हिम शिखर निम्नर तनी पथ घीड़-वन
मुषन मन के लिए बन्धन हो गये ।
दण्ड से छन कर समाये जाँव म,
आँख से मन म बसे, मन हो गये ।

■

कहा मन ने आँख से

बहा मन ने आँख से —

तुम रमो उज्ज्वल गैल श्रृंगा मे,

मैं रहूँगा लीन तत्र तव और अगा म ।

गया जिस जिस अंग तक मन

बिहग निगु-सा मोल्कर निज पाँख,

घबित हो पाया यहो —

यह तो वभी वा घन चुका है आँख ।

आँख भर देखा कहाँ

आख भर दगा कहा आख भर आयी ।

अटकी हो रही दीठ
वह हिमगिरिमाल दीठ
मेरे हो आसू के झीने पट जोट छिपी,
देखता रहा बेरस दो नहीं दिखायी ।
आख भर देखा कहा आख भर आयी ।

पक्षिबद्ध दंढदारु
रोमिल, श्लथ, दोष चार,
चन्दन पर यामल कस्तूरी की गंध-सो
जलन की छाया हिम शृंगा पर छापी ।
आख भर देखा कहा, आख भर आयी ।

गिखरा के पार गिखर
विध कर दग गय बिखर,
घाटी के पछी-सी गहरे मन म उतरी
वन्रा केनारमयी मरकत गहरायी ।
आँख भर देखा कहा आख भर आयी ।



पुन सृष्टि



‘प्रकृति रमणीक है’

जिमन इतना ही कहा —

उमने मकुल मौन्दय व घनीभूत भार का

आत्मा के बंधा पर

पूरा नहीं सहा ।

भीतर तब

क्षण भर भी छुआ यदि हाता

मौन्दय की गिमाआ ने

जल जाता गन् गद्

रहता बस अथाकुल मौन शेष

एगा मौन — जिसकी गिराआ म

सारा आवग मिथु

पारे-सा

रधर उधर फिरता बहा-बहा ।

प्रकृति ममतालु है,

दूध भरी बत्मलता स भीगी —

छाया का जीबल पसारती

— माता है ।

स्निग्ध रश्मि रागी व बंधन स बाचना,

— निमग्न सदा रह है ।

बाँहा की वल्लरि से तन-तर का
 रोम रोम बगती-सी
 जोरा की आँखा से बचा-बचा
 दे जाती चुम्बन के अनगूँथे फूला की पवित्रया
 — प्रकृति प्रणयिनी है ।
 बूद-बूँद रिसत इस जीवन का बाधे मृत्यु-अजलि म
 भय के बना-तर म उदासीन
 शांत देव प्रतिमा है ।

मेरे सम्माहित विमुग्ध जलद-अन्तस पर खिंची हुई
 प्रकृति एव विद्युत् की लीक है ।
 ठहरो कुछ पटल अपने को उससे सुलझा लें
 तब कहें — प्रकृति रमणीय है ।

हिम-जलद, हिम शृंग
हिम-छवि,
हिम दिवस, हिम रात,

हिम-पुलिन, हिम-पथ,
हिम-तर,
हिम क्षितिज, हिम-पात ।

आँस ने
हिम-रूप को
जो भर महा है ।
सब वही हिम है
भगर मन में अभी तक
स्पन्दना का
उष्ण-जलवाही विभामय मोत
अविरल बह रहा है ।

हिम नही यह

हिम नही यह —
इन मनस्वी पत्थरा पर
निष्कलुष हा
जम गया सौन्दर्य ।

यह हिमानी भी नही —
गात घाटों में
पिघल कर बह रही
अविराम पावनता ।

और यह सरिता कि जमे
स्नेह का उद्गम कोमल पाश
अनगिनत प्रतिबिम्ब रच कर
बाधती है भूमि से जावान ।

हिम-स्पर्श

प्रथम बार
मेरे — हिम के —
अस्मित्वा में मृग दृष्टा,
मुझ लगा
मेने नहीं, हिम ने ही मय छत्रा ।

मीमांसान रूप की
आभा के तार में
रिरना है चेतन मन बहा-बहा,

गीतल हिम ऊँह म
 एव धार फिर मनु के भीगे नयन,
 घाणो ने कुछ न कहा ।
 गिची प्रत्यगा रोमाच की
 राम रोम मन्त्रपूत गर-सा
 पर सार उडने को आतुर,
 तैर निगावान -

लक्षित जलस्थ-मा
 आन्मि आखेन्क के घाण मे रिधे
 घायल हिरने की तडपन को बेल्ता -
 जचल म भी मौन रहा ।
 रह रह कर छूटे - सरयातीत ज्योति शरय
 मुक्षम वही फूटा एक अप्रतिहत उज्ज-सोत,

पिघल गया,
 बाहर का सारा हिम
 भीतर के ताप स
 पता नही मन ने जडता को त्यागा, या गहा ।
 कुछ क्षण बाद मुष भान हुआ -
 मैने हिम ने दोना ने दोना को -
 बिना एक साथ टुआ ।



हिम गले क्या
गले मरे गद
जा उसकी अछूती श्वतिमा का
बाधने में गिरल जात हैं ।

हिम वह क्या
वह मरे अश्रु
जा उसकी अचोन्हा भगिमाएँ
दलने का निबल आत हैं ।

हिम गल क्या
हिम वह क्या
गले में ही
वह में ही ।
दिया जिसन वध
उसका 'विद्ध बनवर
कुछ समय ता
रहें में हा ।

हिम विद्ध

दखा नहा क्षीर सिन्धु
या ही बस - शिखरा के शीर्ष पर जमा हुआ
उसकी विस्फारित तरंगा का
मन्दिर निहार है ।

हुए अभिभूत ?
हम ये ही कहा हात जा
कुछ क्षण का हमस हमारा अस्तित्व
तुहिन शृंगा ने छीन लिया ।
फिर क्या लाटाया हम पात नहीं ।
लगता है —
उही मौन मुद्रित क्षणा का
प्रत्यक्ष अविकल्प अंग
बर्फ-बर्फ जमा का स्पर्शात्मात —
मचित गहराई से गहरा था ।

वह केवल अपना ही नहीं
अब हमारे भी होने का साक्षी है ।

नीचे से ऊँचे का देखा
हम नमित हुए,
सुपमा के भार से —
बुझ गया हमारा उन्नत दर्शन ।
हुए उद्ग्रीव,
किन्तु पतली निझरिणी भी
नाप नहीं पाये एक दृष्टि में
अभ्रकश हिमाक्षिप्त शिखरा के रूप का
घाघें भी तो कैम —
टक-टूक गन्दा की डार में ।

जीवन का वेग भयु-बाछा बन बहा,
हमने अनुमान लिया —
भारतजयी हाकर भी आय क्या धमराज
गलने हिमवान् में ।
गवासा का जत किसी ठिठुरन में हागा ही
इनकी गात, गुभ्र, स्निग्ध जडता का स्पास्य पारावार
पायेंग वहाँ पुन
आयग भी ता यह दोठ नहीं हागी पहले-जसी
अनाम्बाद,
अनाविद्ध ।

पुन सृष्टि

तूली की नाक की तरह
तीखी दृष्टि विवश
फिरती रही, फिरती रही
शिखरा को
जलदो को

अपने जीर उनक बीच आते
देवतरआ का
घेरती सवारती ।

मन ने ज्या
विधि क बनाय

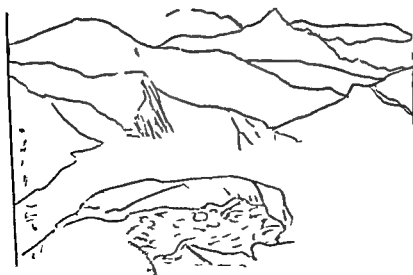
सत्र रूपा-आकारो को
फिर से रचा,
जो कुछ भी शेष बचा
माहस बटोर कर
अपने म सोये हुए स्रष्टा का
गुली बाँह छू कर जगाया
कहा - द्रष्टा बनो ।
देवो -

यह शिखर-जलद-देवदार मे प्ररित

दिशावाण

जो भी है, सत्र कुछ तुम्हारी ही सृष्टि है ।
पृथ्वी-आकाश लो, अनिल-जल लो तेज ला,
जैसे सहेज मिले इसको सहेज लो ।

बादलो के वलय



बादल की सीप

जाने क्या
बादल की सीप ने
नम्र से उस अँधियारे काने तक
मानी-मो चाँदनी उलीच दी,

मारे हिम शृंगा की बार-बार
रेगम की आभा में फूट घड़ी ।



हिम शिखरों पर वादल

गिलरा पर त्वि
स्याह बानल की परछाई —
चादी के मजे हुए थाल म
पूजा का दीपक रख
आँखा म काजल मा पार गयो ।

स्याह बादल जगमगाती धूप

गिरि शिखर से तलहटी तक
चीड़-वन को घेर
उतर आया यह गिथिल बादल
धुमेला स्याह
हुआ मन व सामन प्रत्यक्ष मरा दाप ।

परम कर उस छार तक
फली हुई हिम राशि
फूल की धाली सदृश —
यह जगमगाती धूप
सुला मेरे पुष्प का संचित अपरिमित बाप ।

जिस जगह जी चाहता है
देग एता हूँ ठहर कर
स्याह बादल
जगमगाती धूप
जिन्दगी व इस अजाने माह पर मरा यही सतोप ।

धूप की चादर

बादला व
बद धुलम
ओढने व बाद भी
जभी तक
इस शिखर का ठिठुरन
नहा छन्ती तनिक भी,
और
यह म हू
कि हलकी धूप की चादर
बदन पर ढाल कर
दह स ही नहीं
मन स भी पसीज
गुधा चुका हूँ ।

वादल एक शब्द चित्र

साँझ व सदुर लिप जावाग म
सरब भाया दुधित दान्द-ध्याल
लपलपाती दीघ विद्युत्-जीभ जिसकी —
तुहिन गिखरा पर विसुध मोयी हूँ
स्वप्न डनी हर विरन का
घाट जाना चाहती है ।

वादल-भवरे

खिड़ देख
शिखरा व इन्नीवर
परिचित कोमलता का भ्रम ल कर
वाल्स भवर आत
हिम की चटटाना स
बार-बार टकरा कर
मन मारे उड जात
नीली गहराई म
निमल आवाग की ।

ज्योति की मछलियाँ

बादल का धूल व ऊपर —
सिला गिरा का कमल-वन ।
भार ने भर भूठ बुकुम बिरन-बसर
इस तरह फेंकी —
बना व गहन पुरइन-पात सारे
रंग उठ ।
ज्योति की बहुरंग, मिलमिल मछलियाँ
नील व तलहीन बादल-नीर म
बहुत गहरे, बहुत गहर, तिर गया ।



ढाकुरी के भोर



वात, रात से

आँस-सी उजली धुली यह रात
हिम गिर पर
रिमिया के पाँव रख कर
बैठ चली,

कहा मैंने —

स्वो !

म भी साथ चलता हूँ,
गगन की उस गान्त नीचे झील व
निस्तान तट पर
बैठ कर यातें करेंगे ।

पख कोर

दृष्टि-मय म —

छू गयी हिम शिखर रेखा स
देवतरु के झूमते छननार छोरा-भी
किसी उड़ते जल बिहग की
पख-कोर ।

दृश्य के परिग्रह्य म
ऐसा लगा मुथका
कि जस हिम शिखर से
छू गया मैं ही ।

सिहरना के तार म
ऐसा पिरोया राम रोम
तात सी बज उठी
सारी चेतना ।

निगिर-गविन छत-म
 किमी दूरेन वाण्ड पर
 वापते मयूर मी
 मिहरन वह
 मेरे गम पना म भर गयी ।

'आइम त्रिज पर महसा
 मरे ही सुन शीत निजलित पग
 क्षण भर का
 उम मयूर के स्पर्शित ननन मे
 पूर गये ।

मुग लगा -
 मैने भी अभी अभी
 वही किमी वाण्ड पर पग गा
 निगिरा का टुना ।

शिखर हथेलियों पर

ग्नि भर को यवन से
मुरझाये सूरज की
राशि राशि आभा को
रोक लिया
शिखर-हथेलियाँ पर
तिमिर-शून
नीलम गिरिमाल ने ।

बित्तने क्षण बीते अभी
झिलमिल झलकती
उन ऊँची हिम कोरी तक
गोरी उगलियाँ म —
पोर-पौर,
महनी-सी रच गयी ।

छवि-तरी डूबी

सूय डूबा नहीं,
डूगी नहीं बिरन,
गिसर डूबे
तिमिर न उस नाल पायावार म ।

शृग-छवि बी, ज्यार विह्वल
द्वत पतली तरी पर तिरता हुआ
नि सग में भी ता वही -
डूबा कहा मँयघार म ।

हिम बिंद

ढाकुरी के भोर

बादल की आँट से

छन कर गिरी जो

बीच गंगा में

यह नहा वह रश्मि

जो हिम पर पड़ी थी

ढाकुरी वं भार

पत्तियाँ को बध कर

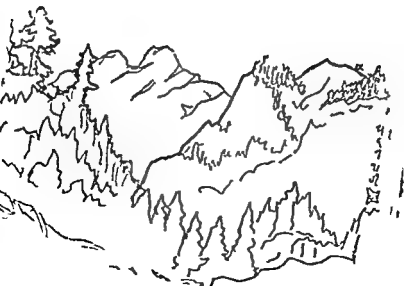
दीवार पर छप-सी गयी जो

नहा यह भी नहीं है वह रश्मि

जा मन में गड़ी थी

ढाकुरा वं भार ।

वन-स्पन्दन



उपत्यका आहत करुण स्वर

उस विंगल उपत्यका का चीर कर
तडफडाहट भरे स्वर म
'पी कहा, पी कहाँ
टेरता फिरता रहा —
पागल पपीहा ।

सोचता हूँ —
पी बनी किस घात की,
हर रदन के बाद
तीली और होनी गयी जीहा ।

घन घिरे व शिगर
'सुन्दरनाग' के
माँस की हिम घूष म
चलके झटक कर ला गय ।
फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ

वाग्ला के बज्ज-गजम नाच से मट्ठी हुई
नाच तब सम्पित सन की पतिया स
तुरे बपा-बूट,

फिर हुआ यन्त्रे स्वर 'पी वहाँ ।

प्रसर गोल पगडाल गिद्ध-सा
पवन पवन का एक धारा
दह पर
गीत ये पजे चुभा कर उड़ गया ।
फिर हुआ स्वर पी वहाँ

डाकगले की अगीठी देर तक
अनमवारी भाग म सिद्धर भरती रही,
ओढ़ कर फिर राख की चादर
अचानक बुझ गयी,
किन्तु वह जाहत कण्ठ स्वर दावला,
कौन जाने और कब तक दन् से जलता रहा ।

उम किनारे से अचानक
चौड-वन को धरधराता दूर —
भारी एक पत्थर गिरा
धुध लहरा ने तडपतर
हर दिया या सूचना दो,
प्रतिध्वनि के मित्र
बोई वही से आया नहीं ।

रमिया की सलाई पर बना —
ऊनी इद्रधनु बुनती, अचूरा छोड़
विषम आने का हृई कुछ उर्मियां
विन्तु जल की सहज गति में
एक गहरी शांत क अतिरिक्त
मिला कुछ भी ता नहीं उनका ।
सह गयी वह नये छापी
चाट रतनी बटी आगिर सह गयी ।

रमिया की हाथ में लकर मलाई फिर बही ।
गुन ऊनी इद्रधनुजा की बुनाई फिर बही ।



नदी का आवेग

पवता के बीच बहती
नदी का आवेग
जस -

अश्रु बर बर गिरने से पूव
हृदय को ठठकाता हुआ कोई दद
खिल मन की धानिया की चीर जाये ।

पाँगर ग ध विथोरती

भर भर जँजुरी
पाँगर-गध जियारती

पवत की कामल बयार भी
अपनी गधमाप्नी गनि स
एक साथ ही
दह प्राण धक्कोरती ।

भँवग की गुजार टार कर
जिधुरी सारभ कणिनाजा स
गुपचुप मधु रम चारती ।

भर भर जँजुरी

■

उस हिमानी देश में भी

दमवती हीरक कनी-सी
उन अदखी गिखर-कारा की चमक
थक परा की दुखन सहला गयी ।

राह पथरीली
बना क बीच छिपती-भाँवती
सिहरते हर एक राए का
उस हिमानी देश में भी
स्वद से नहला गयी ।

टेर, पवत पन्थ की

सिखर-बन्ध पर
जनेऊ की तरह चन्ता हुआ
वमा पाँगर-गाव म
माया — गुच्छ-अजलि स गिरी
मिन जरण भाली पगुरिया बीच,
घिरा, उल्ला
गसिन पाटल-बल्लरी व
भूमिगायी बुज-पागा म
चोह-वन का
पीत-गर्वि सूचिया स विधा
विमना क्षण भर
दक्तरआ का घनी भागीप-छाया तल
दवनर व —
रसिमया म कम हरित वितान-जस ।

फिर उठा कर हाथ रता कभी अँगठाद
मान-यागिल जलस बाँगा म
निगरा की जाग मुक्ता - क्षाबिता,
पट्टा कर आदम त्रिजा पर
म्या म वपता सिहरला

हिम बिन्द

आज भी मेरे थक-हारे पदा के पास आकर
 स्नेह गील परस स सत्र श्रम मिटाकर
 टक कर माथा
 बड़ी मनुहार करता कह रहा है —
 उठो ! आजो चलो मेरे साथ,
 दूर — घाटी पार स —
 सुना ! जत्र भी टुनकती ह घण्टियाँ
 भारवाही बकरिया के कण्ठ की
 गात गात —
 बल पर लाद हुए घर वार
 उन बलादागामी यानिया की
 सुधि निलाती
 चीरती-सी काल का यवधान—
 फिर फिर टुनक जाती
 सुना ! सुनत क्या नही ।'

घाटी की चिन्ता

सरिता-जल म
पेर डाल कर
आँखें मूँदे, शीश झुकाये,
सोच रही है कत्र से
वादल जोड़े घानी ।

कितने तीखे अनुतापा को
आघाता को
सहते-सहते
जाने कैसे असह दन के बाद
वन गया होगी पत्थर
इम रममय घरनी को मानी ।

स्तम्भ कथा

नन्दा देवी के ब्रीडा प्रामादा की
रचना करने को स्वयं विन्वन्मा ने
सम्भे ही सम्भे जगह-जगह रच डाल
मजन मक्लपा म जाने अनजाने ।

उनकी नभ भेनी गर्वित ऊचाइ को
जब विधि से देखा नहा गया ईर्ष्यावान
निज मन्त्रशक्ति से उसने उन स्तम्भा को
परिणत कर डाला तरुआ म अभ्रवश ।

निश्चमित विन्वन्मा के कर से छनी
जा गिरी छूट कर जल की गहराई म
लहरा म ऐसी सृजनशीलता जागी
रच गये वहा भी सम्भे परछाई म ।

घोला वह जाकुल मण्ड - 'अरे चतुरानन
मेरी रचना तू मिटा नहीं पायगा ।
यह घने राड-वन जोर देवतरु-वानन
जा भी दम्बेगा स्तम्भित रह जायगा ।

तू शिखाए,
भूमि की आवादाए
बेधती जाबाज

चौड सिहरन
दयतर रामाच
पुलकना स बनो सारी पत्तियाँ,

स्पन्दना का गहननम इतिहाम —
परिणत ह। गया जम बना म,
निन्तु धरती के हृदय की यात पूरी —
बैध वहाँ पायी त्वचा के बम्पनों म ।



स्मरणा-जल



हिम शिखर मन में

गीत की नाव में
बर्फ के टुकड़े
पिघलते हैं
गलते हैं

और -

वहीं निराधार तरनी बह
तीरती है
अपने ही जल में ।

टेरते हैं शिखर

टेरते हैं शिखर

रह रह ढाक जाती है —

दपहली कोर

भन के दान्त निमल, गहन जल म ।

टेरते हैं शिखर

रह रह टीस जाती है —

बना को याद

छनती रश्मिया के भूमि शायी ज्याति-छल म ।

टेरते ह शिखर

रह रह तर जाती है —

जलन छाया

मावलो अलि पवित्र-सी उजल कमल म ।

कल्पना का अन्तराल

वस्तु का मुल्क बनानी है
— भावमय दूरी,
चाह वह

दग की हा
बाल की हा
अपवा हा

कल्पना की
स्पगन बाध की

दूरी वह —
रा रच दती है
नयी-नयी छवियाँ
अन्तरग दृष्टि के
सारे अन्तराल में ।

होगा
यथोर और कौन सत्य
हिम से पापाण से ।

होगी
रमणीक और कौन छवि
इन सुदूर शिखरो की
रगारग आभा से
— आभा के रजित आह्वान से ।

शिखरों से दूर हूँ

इसम, उसम —

अनगिन घाघा म, उल्लाह हूँ,
शिखरों से दूर हूँ ।

पाऊँ जा पल

अभी हिम-जल स अभिमन्त्रित
घाटी म तिर जाऊँ,
रविन मजबूर हूँ ।

देखना था निनिमेष भावा म जिह
उह सपना-मा मन-ही-मन
अनुदिन अभावा म देखता हूँ,
मैं विनना प्रूर हूँ ।

■

उम्र का माथा

लौट आया हूँ
थक हारे अहेरी-सा
गहन वन में भटक कर,
सुनहली हिरनी-सदृश हर वार
तन-मलब से
मुझ छलती रही — चढती घब ।

गहन वन से
लौट आया हूँ,
उस मनोहारी यवन से
मुक्ति भी कुछ पा चुका हूँ,
किन्तु मेरी उम्र का माथा —
दीपते प्रत्येक हिम छादित शिखर की
छाह में बहती
प्रखर सोतस्विनी के
वीचि सिंचित
इन्द्रधनुषी बूल पर
— अब भी टिका है ।

छन्द म आवद्ध कविता-भक्ति-सी
 भाज-तरङ्गा पर कसी
 रस-गविता वेसुध लताए
 सरसराते पवन के आवेग पर
 किसी जालीदार श्वेत दुकूल-सी उड़ती हुई
 निझरिणिया से भरी - वे घाटियाँ
 और उनम झाँकती हिम श्रृंखलाए
 भूल क्या बठ बटाहा !
 क्या तुम्हारे स्वप्न-जल म क्षलमलात
 उन हिमानो स्वर्ण गिररा पर -
 गान्त संधा-बु-तला-स
 ताम्र-जलद चुके नहीं ?
 क्या तुम्हारी चित्र रचना स अभी तक
 स्नेह अजित रूप-रक्षी
 नोजपत्र चुके नहीं ?
 अर ! पवत प्रात से आती हुई
 दम सुपरिचित प्राण-बेधी ढर का
 और तुम क्या तक उपलित कर सवाग ?
 क्या नहीं कुछ और अत्र भी शय है जिमम
 रिक्तता अपने हृदय की भर सवाग ?

व्यर्थ शब्द जाल

ला म ता भार स ही शब्दा का जाल डाल
ममाहत निरा मीन बठा हूँ
स्मरण-दीप्त विष्णु प्रयाग की शिलाओ के
चिक्ने सोपान पर ।

मुझ तक न आना
नही स्वच्छ विष्णुगंगा के
उच्छल तरंग-गुच्छ
छीप छीप जायगे
वेवस तुम्हारे भी दह प्राण ।

जिमने आरोहा अवराहा पर
 फिरना के वचन-दुलूल मा
 चार चार चहने का
 आतुर मन
 उस फैनिल निप्र अलकनन्दा की
 धाराहत प्रखर धार
 जाने वन से उलथी
 जल के वम्पित तल की —
 गीतिमयी स्वरन्धि म ।

मेरा शब्द-जाल ध्यय,
 कोई भी मछली
 उस छवि-दीप्त उज्ज्वल जल रूप की
 छली नहीं जा सकी,

हाथ लगी
 केवल कुछ छोटें ही
 जिनकी शीतलता मे भीग कर
 रोम रोम अन्न भी है —
 वण्टवित ।

शिखर मेरे

जागता हूँ तो —
कहीं छुप कर मुझो में
शिखर मेरे जागते हैं

और सोता हूँ अगर —
तो कहीं मेरे बीच अन्तर्लोक हो
सोना मुझी में चाहते हैं ।

नहीं कोई नहीं है
जिससे कहूँ मैं
मम की यह बात ।
घाटिया वे दूर हैं
देखा जहाँ से इन्हें

पहली बार
ज्योत्स्ना-स्नात
जाघी रात ।

स्मरण जल

मुनी आँसा देखता हूँ
वे गिर्यर दूरस्थ
धुलने जा रहे हैं

स्मरण जल म ।

बादल के सपना में
नम हो गये थे
रग जा आवाग के
और धुलने जा रहे हैं

स्मरण - जल म ।

पाम मेरे बही ऐसी तूझी
उसो मेंवाने,
बही ऐसी दृष्टि

जा जयूर चित्र में भी

रूप को पूरा निहाई ।

किन्तु

आहत शिखर के

इस छोर से उम छोर तक

दोहरी लपकती

त्रिजलिया की तरह

मेरे बन्ध

गुलते जा रहे हैं

स्मरण जल में ।

मैं वह क्यों नहीं हुआ



कहाँ है वह हाथ
 मुझसे मागने का
 — दान

मरट बाल म
 जा बटा मेरी जार,
 कहीं से आयो अभी
 यह मम की आवाज
 जिमन दिया
 मरा चेतना की जेहा का बक्चार,

चाहत हा म्बण
 — यह ला
 चाहत हा खन
 — वह भी द रहा हूँ

विन्तु पहल सनिक उमरा
 यग सह ला
 आर यति हा उँगलिया म शक्ति
 फिर भी तप
 ता ला द रहा हूँ
 यह धधरना हुआ दृष्ट मन्त्र
 अपनी आम्हा का अस्मिन्मय अस्तित्व
 रच गया ता रता इमा वश घातक प्रूर ।
 पर मया ता बरा सामा न अमुर का गव
 — चरनाचूर ।

स्वाभिमान

देश मेरे ।

ज्यातिमय तेरे तुपार किरीट पर

बुछ मकाटे रग आये —

समझ कर तुझका निरा म्रियमाण ।

झिटक दे सिर

तनिक दायी आर बायी आर

किलकिलाकर कीट

धरती पर गिर उत्तान ।

जान ल यह

निकलन स पूव उनके प्राण

काल से भी अधिक होता है भयावह

किसी आहत स्वाभिमानी देश का

जागा हुआ अभिमान ।

गये महाभारत के बाद
 गान्धि पाने का
 जहाँ —
 गहन चित्ताबुल धमराज
 आज वही
 उसी दुध्न, हिम पावन,
 जलदोघ्नत भूमि पर
 नये महाभारत का सूत्रपात !
 अब इसमऊँची
 इसम पावन
 कौन भूमि होगी जहाँ
 युद्ध - जमी हाने के बाद
 पुन पाने को गान्धि - लाभ
 जायेंगे
 आगन युग के चिन्तित धमराज ?

मैं वह क्यों नहीं हुआ

मैं वह क्या रहा हुआ
जिन्ना
हिम निगरा की रक्षा में
पहला आघात सह्य ।

मैं वह क्या नहीं हुआ
जिमने घायल तन से
चौड़ी चट्टाना पर
प्रथम बार
विभी गम सात सा —
रक्त बहा ।

मैं वह क्या नहीं हुआ ।



